महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

संपादक
महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
बड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन 456010
फोन : 0734–2521499, 0755–2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1
प्राचीन नीतिशास्त्र में स्मृति एवं जल
प्रवेश दीक्षित

पृष्ठ क्र. 3
धातु में ढले देवता : चोल युग की शिल्पकला का वैभव
राजेश्वर त्रिवेदी

पृष्ठ क्र. 5
मालवा के लोक मानस में सम्राट विक्रमादित्य
महेश चंद्र शर्मा

पृष्ठ क्र. 8
वृहत्तर भारत की गौरवगाथा भारत विक्रम
मथिलेश यादव

प्राचीन नीतिशास्त्र में स्मृति एवं जल

प्रवेश दीक्षित

भारतीय नीतिशास्त्र में स्मृति एवं जल के परस्पर संबंधों का इतिहास अत्यंत गहन, समृद्ध और बहुआयामी है। यह केवल प्राकृतिक संसाधन के रूप में जल की उपयोगिता तक सीमित नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, दार्शनिक, धार्मिक और प्रशासनिक दृष्टियों से भी अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। जल भारतीय मानस के लिए केवल भौतिक तत्व नहीं रहा, वह जीवन का मूल तत्व, पवित्रता का प्रतीक और सामाजिक व्यवस्था का आधार रहा है। मनुस्मृति, जो भारतीय विधि और नैतिक संहिता की प्राचीनतम स्मृतियों में से एक है और कौटिल्य का अर्थशास्त्र, जो शासन, राजनीति और प्रशासन का उच्चतम ग्रंथ है, दोनों ही ग्रंथों में जल के प्रति दृष्टिकोण को भिन्न परंतु परिपूरक रूपों में प्रस्तुत किया गया है। इन ग्रंथों में जल का संरक्षण, उपयोग, अधिकार, दंड और नीति से संबंधी जो विचार मिलते हैं, वे हमें न केवल अतीत की झलक देते हैं, बल्कि आज के जल संकट से निपटने के लिए भी मार्गदर्शक सिद्ध हो सकते हैं। मनुस्मृति में जल को एक पुण्यदायी तत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यह ग्रंथ केवल नैतिक निर्देशों का समुच्चय नहीं है, बल्कि समाज की संरचना, आचरण नियम, दंड व्यवस्था, स्त्री–पुरुष संबंध, वर्ग–व्यवस्था और पर्यावरणीय चेतना को भी संबोधित करता है। जल का उल्लेख मनुस्मृति में बारंबार आता है, विशेषतः स्नान, पवित्रता, यज्ञ, तपस्या, दान और दंड के संदर्भों में।

मनुस्मृति में स्पष्ट कहा गया है कि जल को दूषित करना पाप है और यह दोषरहित जीवन की एक आवश्यक शर्त है कि मनुष्य जलस्रोतों को अपवित्र न करे। जल को देवतुल्य मानकर उसकी रक्षा करना धर्म का अंग है। नदियों, सरोवरों, कूपों और बावड़ियों को धार्मिक कार्यों का भाग बनाना इस ग्रंथ की सांस्कृतिक योजना का अंग रहा है। जो व्यक्ति जल स्रोतों को नष्ट करता है, उन्हें अपवित्र करता है, उसके लिए दंड विधान भी निर्धारित किया गया है। उदाहरणतः यदि कोई व्यक्ति किसी सरोवर या नदी में मल–त्याग करता है, तो वह 'अशुद्ध' घोषित किया जाता है और उसे दंड तथा प्रायश्चित से गुजरना होता है। जल को दूषित करना केवल एक भौतिक अपराध नहीं, बल्कि एक नैतिक और धार्मिक अपराध भी था। मनुस्मृति जल के उपयोग में संयम और विवेक की शिक्षा देती है। जल केवल उपभोग का साधन नहीं, यह समाज की सामूहिक संपत्ति है। इस विचार का प्रकटन स्पष्ट रूप से तब होता है जब ग्रंथ यह निर्देश देता है कि कुएँ, सरोवर और जलाशयों का निर्माण एक पुण्य कार्य है और जो व्यक्ति ऐसे जलस्रोत बनाता है, वह मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इससे यह संकेत मिलता है कि जल का निर्माण, संरक्षण और वितरण एक धार्मिक कर्तव्य था और इसका उल्लंघन अधार्मिकता माना जाता था। जल का वितरण सामाजिक न्याय से जुड़ा हुआ था, कोई भी जाति, वर्ग या लिंग जल से वंचित न हो, यह सुनिश्चित करना नीतिशास्त्र का कार्य था। अतः मनुस्मृति एक ओर जहाँ जल को धर्म और पुण्य से जोड़ती है, वहीं दूसरी ओर इसके दुरुपयोग और दूषण को अधर्म और पाप के रूप में देखती है। जल से संबंधित कर्मों में शुद्धता की अत्यंत महत्ता है। स्नान, संध्या–वंदन, अर्ध्य, पितृ–तर्पण आदि समस्त वैदिक कर्म जल के बिना संभव नहीं थे।

"अद्भिः संशुद्धिरङ्गानां मनःसंस्कारतः शुचिः। सत्येनात्मा समं कुर्यात्तपसा शरीरं शुचिः"

अर्थात् शरीर की शुद्धि जल द्वारा होती है, मन की शुद्धि संस्कारों से, आत्मा की शुद्धि सत्य से और शरीर की उच्चतम पवित्रता तपस्या से होती है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र इस दृष्टि से एक अन्य रूप प्रस्तुत करता है। यह ग्रंथ शासन, अर्थव्यवस्था, नीति और दंड संहिता पर आधारित है, जिसमें जल को एक प्राकृतिक संपदा और प्रशासनिक नियंत्रण के अधीन संसाधन माना गया है। कौटिल्य स्पष्ट रूप से जल प्रबंधन को राज्य के

कार्यों में सम्मिलित करता है और जलस्रोतों का निर्माण, नियंत्रण, कर प्रणाली, दंड, जल निकासी, सिंचाई और संरक्षण की विस्तृत नीतियाँ प्रस्तुत करता है। जल कौटिल्य के लिए कृषि का आधार है, और कृषि अर्थव्यवस्था की रीढ़। अतः जलस्रोतों का निर्माण जैसे नहरें, कूप, बाँध, जलाशय आदि राज्य की प्राथमिक जिम्मेदारी मानी जाती है। 'सिंचाई अधिकारी' की नियुक्ति, 'सिंचाई कर', 'जल चोरी' पर दंड और जल वितरण में संतुलन के लिए राज्य की ओर से स्पष्ट निर्देश दिए गए हैं। कौटिल्य जल को 'राजकीय सम्पदा' मानते हुए इसकी सुरक्षा के लिए विस्तृत विधियाँ बताता है। वह कहता है कि जिन क्षेत्रों में वर्षा नहीं होती, वहाँ कृत्रिम जलस्रोतों का निर्माण किया जाना चाहिए और इनका लाभ कृषकों को सम्यक रूप से मिलना चाहिए। जो व्यक्ति अपने खेतों की सिंचाई के लिए अन्य किसानों के हिस्से का जल चुरा लेता है, उस पर आर्थिक दंड लगाया जाता है। यह दंड केवल चोरी के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और संसाधनों की समता के सिद्धांत पर आधारित है। जल का उपयोग व्यक्तिगत लाभ से अधिक सामाजिक कल्याण हेतु होना चाहिए। कौटिल्य की योजना में जल का संरक्षण राज्य की सामरिक नीति का भाग भी था। नगरों और किलों की स्थापना में जलस्रोतों की उपलब्धता को अत्यधिक महत्व दिया गया। जलाशयों को सैन्य दृष्टि से भी आवश्यक माना गया, ताकि संकट के समय सेना को सुरक्षित रखने के लिए जल की आपूर्ति बाधित न हो।

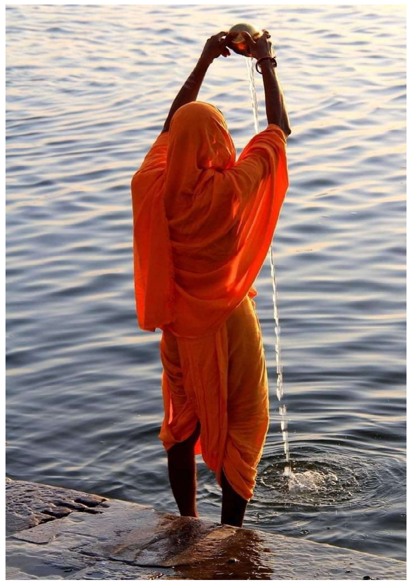

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जल केवल उपयोग की वस्तु नहीं, अपितु एक संरक्षित सम्पदा है, जिसकी अवहेलना राज्य के अधिकारों पर आघात है। वह स्पष्ट करता है कि जो व्यक्ति जल को अपवित्र करता है, अथवा सार्वजनिक जलस्रोतों को हानि पहुँचाता है, वह राजद्रोही की कोटि में आता है और उसे कठोर दंड दिया जाना चाहिए। यह दंड केवल आर्थिक ही नहीं, कभी–कभी सामाजिक बहिष्कार और दंडात्मक कर के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार, कौटिल्य जल संरक्षण को केवल नीतिकरिता या प्रशासन की बात नहीं मानते, अपितु दीर्घकालीन नीति निर्धारण के केंद्र में रखते हैं। जलस्रोतों के पुनरुद्धार, कटाव रोकने के उपाय, जलाशयों की नियमित मरम्मत, और स्थानीय समुदायों की भागीदारी को भी महत्वपूर्ण बताया गया है। यदि मनुस्मृति और अर्थशास्त्र को समवेत रूप से देखा जाए, तो दोनों ही ग्रंथ जल को सामाजिक नैतिकता, राज्य–नीति, आर्थिक संसाधन और धार्मिक पुण्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। मनुस्मृति जल की पवित्रता पर बल देती है, तो अर्थशास्त्र जल की संरचनात्मक व्यवस्था और राज्य–नियंत्रण पर। मनुस्मृति में जल को दूषित करने वाले व्यक्ति के लिए धार्मिक प्रायश्चित है, जबकि कौटिल्य के यहाँ उसे कानूनी दंड मिलता है। यह भिन्नता नहीं, अपितु दो दृष्टियों का समन्वय है एक धार्मिक, सांस्कृतिक, दूसरी राजनैतिक, प्रशासनिक। दोनों ही दृष्टियों में जल एक सार्वभौमिक संपत्ति है और इसके प्रति किसी भी प्रकार की लापरवाही समाज व राष्ट्र के हित के विरुद्ध मानी गई है। मनुस्मृति (2.60) में जल से आत्मशुद्धि का विवेचन है– 'आपः पवित्राः सर्वस्य प्राणिनोऽशुचिनः स्मृताः।' यानी जल में समग्र अपवित्रता को दूर करने की क्षमता होती है। यही कारण है कि नदियों के किनारे स्थित तीर्थस्थल–काशी, प्रयाग, हरिद्वार, मुजफ्फरपुर, नासिक–पवित्र माने जाते हैं, और यहां जल का एकमात्र प्रयोग स्नान नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक शुद्धि के माध्यम के रूप में होता है। इस दृष्टिकोण से भारतीय नीतिशास्त्र की एक सशक्त विशेषता यह रही है कि उसने जल को केवल भौतिक संसाधन नहीं, बल्कि नैतिक उत्तरदायित्व के रूप में देखा। प्राचीन भारत की समृद्ध जल–व्यवस्था, सिंचाई के साधन, नदियों के किनारे बसे नगर, बावड़ियाँ, तालाब, और कुएं ये सब इस दृष्टिकोण की जीवंत अभिव्यक्तियाँ हैं। भारतीय परंपरा में 'पानी का कर्ज' केवल एक मुहावरा नहीं, एक सामाजिक मूल्य रहा है, जिसे चुकाना आवश्यक समझा गया है। यह केवल ऋण नहीं, एक प्रकार का दायित्व था, जो हर व्यक्ति के आचरण और नीति का भाग था। इसीलिए, जलस्रोतों की रक्षा करना, उन्हें स्वच्छ रखना, सार्वजनिक हित के लिए उपलब्ध कराना और उनके निर्माण में भाग लेना एक आदर्श जीवन का हिस्सा था।

आज जब विश्व जल संकट की ओर बढ़ रहा है, जल का निजीकरण, प्रदूषण और अनियंत्रित दोहन सामने आ रहे हैं, तब प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्र और स्मृतियों से हमें यह सिखने की आवश्यकता है कि जल केवल संसाधन नहीं, संस्कृति है, केवल उपयोग की वस्तु नहीं, उत्तरदायित्व है, केवल भौतिक संपत्ति नहीं, आध्यात्मिक अनुष्ठान का केंद्र है। मनुस्मृति की नैतिकता और कौटिल्य की राज्यनीति, दोनों मिलकर एक ऐसे जल–दर्शन की रचना करते हैं जो समरसता, संतुलन और स्थायित्व की ओर ले जाता है। यह दर्शन आज की जल–नीतियों में यदि पुनः समाहित किया जाए, तो न केवल समाज में जल के प्रति चेतना जागेगी। बल्कि वैश्विक स्तर पर भी भारत एक प्राचीन परंपरा से आधुनिक समाधान की ओर अग्रसर होने का उदाहरण प्रस्तुत कर सकेगा। भारतीय नीतिशास्त्र और स्मृतियों में जल का जो स्थान है, वह केवल भूतकाल की स्मृति नहीं, अपितु भविष्य की दिशा है। यह हमें यह सिखाता है कि जल संरक्षण केवल एक तकनीकी समस्या नहीं, यह एक सांस्कृतिक, नैतिक और प्रशासनिक उत्तरदायित्व है।

धातु में ढले देवता : चोल युग की शिल्पकला का वैभव

राजेश्वर त्रिवेदी

भारतीय शिल्पकला का इतिहास अत्यंत प्राचीन और समृद्ध रहा है, जिसमें धातु कला का विशेष स्थान रहा है। धातु शिल्प न केवल धार्मिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम रहा है, बल्कि यह सामाजिक, आर्थिक और तकनीकी विकास का भी साक्षी रहा है। भारत में धातु कला की परंपरा वैदिक युग से चली आ रही है और यह परंपरा आज भी जीवित है। इस लेख में हम धातु शिल्प की ऐतिहासिक यात्रा, उसकी विविधता और दक्षिण भारत के प्रमुख शिल्पों के उदाहरणों पर दृष्टिपात करेंगे। वैदिक साहित्य में धातु शिल्प का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में सुवर्ण, रजत, लोहा, ताम्र, सीसा और अन्य धातुओं का उल्लेख किया गया है। लौह यंत्रों, अस्त्र–शस्त्रों, रथों, वज्र, धातु पात्रों आदि के निर्माण की विधियाँ वर्णित हैं। ऋग्वेद में अग्नि के लिए अयसो भाण्ड (लोहे का पात्र) और इंद्र के लिए ष्हिरण्मयी वज्रष का उल्लेख मिलता है। यह दर्शाता है कि धातुओं का परिष्कृत उपयोग उस युग में आरंभ हो चुका था। भारत में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा जैसी सिंधु घाटी सभ्यता में धातु शिल्प का अत्यंत विकसित रूप देखने को मिलता है। कांस्य की बनी 'नर्तकी' मूर्ति, जो लगभग 2500 ई.पू. की है, इस बात का प्रमाण है कि उस समय धातु गलाकर जटिल कलात्मक मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। इसी सभ्यता से तांबे और काँसे की बनी अन्य मूर्तियाँ, औजार, कटोरे, आईने और मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। ये शिल्प केवल तकनीकी दक्षता का ही नहीं, अपितु सौंदर्यबोध और सांस्कृतिक दृष्टिकोण का भी परिचय कराते हैं। धातु शिल्प की यह परंपरा आगे चलकर वैदिक काल में और विकसित हुई। वैदिक युग में स्वर्ण आभूषणों और पूजा के धातु उपकरणों का निर्माण आरंभ हो चुका था। 'शिल्पसूत्रों' और 'अगमशास्त्रों' में धातु मूर्तियों के निर्माण की विधियाँ, मानक और प्रतीकात्मक निर्देश दिए गए हैं। दक्षिण भारत में 'शिल्प शास्त्र' और 'विशुद्ध शिल्प विज्ञान' की परंपरा अत्यंत प्राचीन और समृद्ध रही है। मौर्य काल में धातु कला को शाही संरक्षण प्राप्त हुआ। अशोक के समय के लौह स्तंभ, जैसे दिल्ली का लौह स्तंभ (ईसा पूर्व 4वीं शताब्दी), धातुकला की उच्च तकनीकी और वैज्ञानिक उपलब्धि का परिचायक है। यह स्तंभ बिना जंग लगे आज भी विद्यमान है, जो तत्कालीन धातु निर्माण और मिश्रण विधियों की परिपक्वता का प्रमाण है। गुप्तकाल को भारतीय कला का स्वर्णयुग कहा जाता है, और इस काल में धातु मूर्तिकला अपने चरम पर पहुँची। इस काल में बौद्ध, जैन और हिन्दू मूर्तियों का निर्माण धातु में हुआ, विशेषकर कांस्य में। इस काल की कांस्य बुद्ध मूर्तियाँ अत्यंत उत्कृष्ट मानी जाती हैं। धातु मूर्तिकला की चरम अभिव्यक्ति दक्षिण भारत में चोल वंश के काल में हुई। लगभग 9वीं से 13वीं शताब्दी के बीच चोल राजाओं ने कांस्य मूर्तिकला को नई ऊँचाइयों पर पहुँचाया। इस काल की नटराज प्रतिमाएँ विश्वप्रसिद्ध हैं। चोलकालीन मूर्तियों में शरीर की गत्यात्मकता, सौंदर्य और

अध्यात्म का अनूठा संगम दिखाई देता है। बल्कि यह सामाजिक, सांस्कृतिक और शिल्प कौशल की पराकाष्ठा का परिचायक भी है। इस परंपरा का उत्कर्ष चोल साम्राज्य के कालखंड में दृष्टिगत होता है, जिसने धातु शिल्प, विशेषतः कांस्य प्रतिमा निर्माण की कला को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। चोलों के शासनकाल में निर्मित धातु प्रतिमाएँ न केवल धार्मिक आराधना का माध्यम रहीं, बल्कि वे उस समय के उच्च कोटि के तकनीकी ज्ञान, सौंदर्य बोध और आध्यात्मिक चेतना का मूर्त स्वरूप भी थीं। यह काल भारत की धातु शिल्प परंपरा का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

चोल शासकों ने शिव, विष्णु, पार्वती, लक्ष्मी, दुर्गा, गणेश, कार्तिकेय, नटराज जैसे देवी–देवताओं की अनेक सुंदर धातु प्रतिमाओं का निर्माण करवाया, जिनमें गहन धार्मिक भावना के साथ–साथ शिल्प की बारीकियाँ और जीवन्तता भी विद्यमान है। इन मूर्तियों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वे जीवित होंकृउनकी मुद्राएँ, भाव, गति और स्थिरता का संतुलन अद्भुत है। विशेषतः नटराज की प्रतिमा चोल कालीन धातु शिल्प की सर्वोच्च उपलब्धि मानी जाती है। यह प्रतिमा न केवल शिव के तांडव रूप का प्रतीक है, बल्कि यह ब्रह्मांडीय गति, समय, विनाश और पुनर्निर्माण के दार्शनिक तत्वों को भी मूर्त रूप में

प्रस्तुत करती है। चोल काल में धातु प्रतिमाओं के निर्माण में उपयोग की जाने वाली प्रमुख तकनीक थी 'मध्यम लोप्य (स्वेज ज्मबीदपुनम)' या 'सिरे पर आधारित ढलाई'। यह एक अत्यंत प्राचीन और जटिल प्रक्रिया थी, जिसमें पहले मोम से मूर्ति की आकृति बनाई जाती थी, फिर उसे मिट्टी से ढँक दिया जाता था, जिससे एक साँचा बनता था। बाद में इस साँचे को गरम करके मोम को निकाल दिया जाता था और फिर उसमें पिघला हुआ धातु डाला जाता था। यह तकनीक इतनी परिष्कृत थी कि उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म विवरण भी सुरक्षित रहते थे। एक बार जब धातु ठंडी होकर जम जाती, तो मिट्टी का साँचा तोड़कर मूर्ति बाहर निकाली जाती और फिर उसे परिष्कृत किया जाता। इस प्रक्रिया में कांस्य (ताम्र, रांगा और कुछ मात्रा में सीसा का मिश्रण) प्रमुख रूप से प्रयोग किया जाता था। इन प्रतिमाओं की खासियत यह थी कि वे न केवल धार्मिक अनुष्ठानों के लिए बनाई जाती थीं, बल्कि उनका प्रयोग त्योहारों, उत्सवों और नगर प्रदक्षिणा के समय भी किया जाता था। प्रतिमाएँ मंदिरों में स्थायी रूप से स्थापित नहीं होती थींय वे चल प्रतिमाएँ होती थीं, जिन्हें श्रद्धालुओं के दर्शन हेतु नगर में घुमाया जाता था। इससे स्पष्ट होता है कि चोलों की धातु शिल्प परंपरा केवल मूर्तिकला नहीं थी, वह जनसामान्य के जीवन से भी गहराई से जुड़ी हुई थी।

धातु शिल्प के संरक्षण की दृष्टि से देखा जाए तो चोल शासक इस कला को संरक्षण देने में अत्यंत सहृदय थे। उन्होंने कलाकारों को संरक्षण दिया, उन्हें राज्याश्रय प्राप्त था और उनके लिए विशेष कार्यशालाएँ स्थापित की गई थीं। ये कार्यशालाएँ मंदिरों के निकट स्थित होती थीं, जहाँ मूर्तिकारों को देवताओं के रूप और उनके भावों को समझने का अवसर मिलता था। इन शिल्पियों की एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक कला का स्थानांतरण हुआ, जिससे इस परंपरा की निरंतरता बनी रही।

चोलों ने मंदिर वास्तुकला और मूर्तिकला के बीच संतुलन बनाए रखा। यह देखा गया है कि धातु प्रतिमाओं का आकार मंदिर की गर्भगृह या सभामंडप के अनुरूप होता था। यहाँ तक कि उनकी मुद्राएँ भी धार्मिक ग्रंथों में वर्णित शास्त्रीय मानकों के अनुसार होती थीं। 'शिल्पशास्त्र', 'ध्यानश्लोक' और 'आगम ग्रंथों' का इस कला में व्यापक प्रभाव था। कलाकार इन ग्रंथों का अध्ययन करते थे और मूर्ति निर्माण में उनका अनुसरण करते थे। ध्यानश्लोकों के माध्यम से देवी–देवताओं के रूप, वस्त्र, आभूषण, मुद्राएँ और भावों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता था, जिसे मूर्तियों में साकार किया जाता था। चोल कालीन धातु प्रतिमाओं की बनावट अत्यंत संतुलित होती थी। चेहरे की भाव–भंगिमा, शरीर की मुद्रा, हाथों की स्थिति, नयनाभिराम आभूषण और वस्त्रों की सज्जा सब कुछ अत्यंत सूक्ष्म और कलात्मक होता था। इन मूर्तियों में न केवल आध्यात्मिक गरिमा होती थी, बल्कि नारी और पुरुष सौंदर्य का भी यथोचित चित्रण किया गया होता था। पार्वती की प्रतिमाओं में जहाँ कोमलता, करुणा और सौंदर्य की अभिव्यक्ति होती थी, वहीं शिव की प्रतिमाओं में वीरता, स्थिरता और दिव्यता स्पष्ट दिखाई देती थी। चोल साम्राज्य के दौरान तंजावुर, कुम्भकोणम, चिदम्बरम्, गंगईकोंड चोलपुरम् आदि क्षेत्रों में धातु शिल्प की अत्यधिक उन्नति हुई। इन स्थलों पर आज भी अनेक प्राचीन मूर्तियाँ संग्रहीत हैं जो इस काल की कलात्मक श्रेष्ठता का प्रमाण देती हैं। तंजावुर के बृहदीश्वर मंदिर में स्थापित प्रतिमाएँ, विशेषतः शिव की प्रतिमाएँ, विश्व धरोहर के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुकी हैं। धातु शिल्प की इस परंपरा का समाज पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। एक ओर यह धार्मिक श्रद्धा का आधार बनी, दूसरी ओर इससे कला और शिल्प के माध्यम से ग्रामीण और शहरी जीवन में रोजगार के अवसर भी उत्पन्न हुए। धातु प्रतिमा निर्माण के लिए मूर्तिकारों के साथ–साथ धातु गलाने वाले, कारीगर, मृत्तिका विशेषज्ञ और चित्रकार भी आवश्यक होते थे। यह एक समष्टिगत प्रक्रिया थी जिसमें सामूहिक सहयोग के बिना श्रेष्ठ कलाकृति की कल्पना संभव न थी।

धातु शिल्प की यह परंपरा चोल के पश्चात् पाण्ड्य, विजयनगर और नायक शासकों के काल में भी जीवित रही, परंतु जिस शिखर पर चोलों ने इसे पहुँचाया था, उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस काल की धातु प्रतिमाएँ आज विश्व के प्रमुख संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं और भारतीय कला की पहचान बन चुकी हैं। ब्रिटिश म्यूजियम, मेट्रोपोलिटन म्यूजियम, पेरिस की लौव्रे गैलरी और भारत के अनेक संग्रहालयों में इन प्रतिमाओं को देखकर आज भी विद्वान चकित रह जाते हैं। चोलों की यह धातु परंपरा आज के आधुनिक भारत के लिए भी प्रेरणास्रोत है। यह न केवल अतीत के गौरव की याद दिलाती है, बल्कि यह भी दिखाती है कि किस प्रकार धार्मिक भावना, तकनीकी कौशल और कलात्मकता एक साथ मिलकर कालातीत सौंदर्य का सृजन कर सकते हैं। इन प्रतिमाओं में स्थायित्व है, शाश्वतता है और एक ऐसी मौन भाषा है जो युगों तक संवाद करती रहती है। चोल कालीन धातु शिल्प एक अनोखा संगम है धार्मिक आस्था, कारीगरी, विज्ञान और सौंदर्यशास्त्र का। इसने न केवल भारतीय उपमहाद्वीप की सांस्कृतिक विरासत को समृद्ध किया, बल्कि विश्व को भी यह सिखाया कि कला जब आध्यात्मिकता से जुड़ती है तो वह शाश्वत हो जाती है। चोल की यह धातु प्रतिमाएँ आज भी समय की कसौटी पर खरी उतरती हैं, क्योंकि उनमें केवल धातु नहीं, बल्कि आत्मा और चेतना का स्पर्श समाहित है।

नोट–इस लेख में प्रयुक्त विषयवस्तु, ऐतिहासिक विवरण और शिल्पकला संबंधी ज्ञान निम्नलिखित प्रामाणिक स्रोतों एवं संदर्भ सामग्रियों पर आधारित है।

1. "The Chola Temples: Thanjavur, Gangaikondacholapuram and Darasuram" – Archaeological Survey of India

2. "Indian Sculpture: Hindu, Buddhist, Jain" – Dr. Anand Kumar Swami

मालवा के लोक मानस में सम्राट विक्रमादित्य

महेश चंद्र शर्मा

सम्राट विक्रमादित्य का नाम भारतीय इतिहास और जनमानस में एक ऐसी छवि के रूप में प्रतिष्ठित है, जो न्याय, पराक्रम, बुद्धिमत्ता और संस्कृति के प्रतीक माने जाते हैं। किंवदंतियों, पुराणों, काव्यग्रंथों और लोक साहित्य में विक्रमादित्य की कथा किसी देवतुल्य चरित्र की भाँति विस्तार पाती है। विशेषतः मालवा क्षेत्र के लोक साहित्य में विक्रमादित्य न केवल एक ऐतिहासिक पुरुष हैं, बल्कि वे लोकचेतना, कल्पनाशीलता और सांस्कृतिक स्मृति में रचे–बसे एक अमर नायक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनका संबंध उज्जयिनी (वर्तमान उज्जैन) से जोड़ा जाता है, जो मालवा की सांस्कृतिक राजधानी रही है। यही कारण है कि मालवा के लोक गीतों, कथाओं, भजनों, बाणियों, भाटों की गाथाओं और पावन परंपराओं में विक्रमादित्य बार–बार स्मरण किए जाते हैं।

मालवा की माटी में विक्रमादित्य की छवि किसी शौर्य गाथा के पात्र से अधिक एक ऐसे रक्षक की है, जिसने प्रजा के लिए अपने ऐश्वर्य और सत्ता का सदैव त्याग किया। लोकगाथाओं में वे न्यायप्रिय, तपस्वी, तत्वदर्शी और पराक्रमी सम्राट के रूप में चित्रित होते हैं। विक्रम–बेताल की कहानियाँ जहाँ उनके विवेक और नैतिक निर्णयों का परिचय कराती हैं, वहीं मालवा के ग्रामीण अंचलों में गाए जाने वाले गीतों में उनकी प्रजा–वत्सलता और धार्मिकता का बखान होता है। विशेषतः लोक भाटों और चारणों द्वारा रचे गए विक्रम–चरित्रों में उनकी वीरता, शौर्य और धैर्य की अनेक घटनाएँ मिलती हैं। मालवा की लोककथाओं में यह वर्णन बार–बार आता है कि किस प्रकार विक्रमादित्य ने अपनी राजधानी उज्जयिनी को न केवल एक राजनीतिक केंद्र बल्कि ज्ञान, धर्म और संस्कृति का आलोक केंद्र बनाया। कहा जाता है कि उनके दरबार में श्नवरत्नश विद्यमान थे, जिनमें कालिदास, वराहमिहिर, धन्वंतरि, अमरसिंह, शंकु, घटकर्पर, खटकरप, शंख और वेतालभट्ट शामिल थे। यह परंपरा यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से एक पूर्णरूपेण प्रमाणित सत्य नहीं मानी जाती, लेकिन लोक साहित्य में इसका प्रचुर उल्लेख है। इस लोक विश्वास का सांस्कृतिक मर्म यह है कि विक्रमादित्य ने विद्या और विद्वानों को सम्मान दिया, और एक ऐसे वातावरण का निर्माण किया जिसमें ज्ञान और न्याय साथ–साथ पनपे। मालवा में गाए जाने वाले विवाह गीतों और मंगलाचरणों में आज भी विक्रमादित्य का नाम आदर से लिया जाता है। विशेषकर जब घर के बुजुर्ग आशीर्वाद देते हैं, तो वे कहते हैं–विक्रम जैसे धर्मनिष्ठ हो, या राजा विक्रम का सा तेज तुम्हारे मुख पे हो। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व को न केवल ऐतिहासिकता से जोड़ा गया है, बल्कि वह एक सांस्कृतिक प्रतीक बन गया है, जो नैतिकता, उदारता और बुद्धिमत्ता का आदर्श है। कुछ साल पहले तक गाँव–गाँव में घूमने वाले नटों, भाटों और चारणों द्वारा सुनाई जाने वाली गाथाओं में विक्रम का चरित्र अत्यंत रोचक और प्रेरणादायक होता था। इन गाथाओं में वे कभी राक्षसों से युद्ध

करते हैं, तो कभी न्याय के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाते हैं। एक प्रसिद्ध लोककथा में कहा गया है कि एक बार विक्रमादित्य ने अपने सिर को काटकर शिव को अर्पित कर दिया ताकि प्रजा पर आए संकट को दूर किया जा सके। ऐसी कथाएँ ऐतिहासिक तथ्य कम और लोकस्मृति की रचनात्मकता अधिक होती हैं, परंतु इनमें सम्राट की लोकहितैषी छवि अत्यंत प्रभावशाली रूप मे उभरती है। लोककथाओं में विक्रमादित्य को असुरों, यक्षों, नागों और दैत्यों से भी युद्ध करते दिखाया गया है। वे धर्म की रक्षा के लिए असंभव परिस्थितियों में भी साहस नहीं छोड़ते। पहले कभी मालवा में घूमने वाले लोककथाकार अब भी यह वर्णन करते हैं कि 'राजा विक्रम ने उस पीपल के नीचे तपस्या की थी', या 'उस पहाड़ी पर राजा विक्रम का युद्ध हुआ था'। इन स्थलों पर कभी–कभी छोटे मंदिर या स्मृति चिह्न भी बने होते हैं, जो विक्रम के प्रति जनता की आस्था को प्रमाणित करते हैं। लोकचित्रों और पारंपरिक मंचनों में भी विक्रमादित्य की छवि संजोई गई है। मालवा के मेले–ठेलों में 'विक्रम–बेताल' के रूपक, कठपुतली नाटकों और स्वांगों में उन्हें केंद्र में रखे जाने की परंपरा रही है। यह मंचन जहाँ एक ओर मनोरंजन का माध्यम हैं, वहीं दूसरी ओर ये नैतिक शिक्षा और सांस्कृतिक विरासत के वाहक भी हैं। बेताल के माध्यम से पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देने में विक्रम की तर्कबुद्धि और नैतिक विवेक का चित्रण होता है।

इन कहानियों में राजा विक्रम का संकल्प स्पष्ट होता है 'जब तक बेताल को चुपचाप नहीं लाऊँगा, तब तक हार नहीं मानूँगा' जो लोकमानस में दृढ़ निश्चय और तप की प्रतीक बन चुकी है। विक्रमादित्य को लेकर अनेक लोकविश्वास भी प्रचलित हैं। मालवा में माना जाता है कि अंधकार हटाने वाले और समय के आरंभकर्ता स्वयं विक्रम ही हैं। विक्रम संवत् का आरंभ भी इस विश्वास को बल प्रदान करता है कि सम्राट विक्रमादित्य ने शक आक्रमणकारियों को पराजित कर भारत की सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा की। इस घटना को यद्यपि ऐतिहासिक संदर्भ में विवादास्पद माना गया है, परंतु मालवा की लोककथाओं में यह विश्वास आज भी जीवित है कि विक्रमादित्य ने विदेशी आक्रांताओं से भारत की सांस्कृतिक सीमा रेखा की रक्षा की थी। नवसंवत्सर 'विक्रम संवत्' को मालवा में विशेष रूप से मनाया जाता है। मालवा में लोकभाषा में विक्रम को संबोधित करते हुए कई कहावतें और मुहावरे भी प्रचलित हैं,जैसे 'राजा विक्रम की तरह न्याय कर', या 'विक्रम का सिंहासन चाहिए तो त्याग का व्रत ले'। यह स्पष्ट करता है कि विक्रमादित्य केवल इतिहास या किंवदंती नहीं, बल्कि व्यवहारिक जीवन के लिए एक प्रेरक आदर्श बन चुके हैं। मालवा के धार्मिक जीवन में भी विक्रम की उपस्थिति सतत बनी हुई है। उज्जैन स्थित महाकाल मंदिर में विक्रमादित्य के योगदान को लेकर अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि विक्रमादित्य ने महाकाल की सेवा में अनेक वर्षों तक तप किया, और उनके आशीर्वाद से ही उन्हें अजेयता प्राप्त हुई। यहाँ तक कि मंदिर प्रांगण में विक्रम की प्रतिमा भी स्थापित की गई है, जहाँ श्रद्धालु उन्हें राजा नहीं, तपस्वी की भाँति प्रणाम करते हैं। लोकभजनों में विक्रम की छवि कभी अर्जुन सरीखी वीरता के साथ आती है, तो कभी राम सरीखी मर्यादा के रूप में। एक लोकभजन में गाया जाता हैः

'राजा विक्रम न्याय करे, माटी की छाँव बसे, जहाँ जननी रोवे नहीं, वहाँ उसका राज सजे।'

यह भाव इस ओर संकेत करता है कि मालवा में विक्रमादित्य की छवि मात्र एक भूतकालीन सम्राट की नहीं, बल्कि एक लोकआदर्श की है जो अन्याय, अत्याचार और अधर्म के विरुद्ध उठ खड़ा होता है।

ग्राम्य मेलों में लगने वाली चित्रकला की प्रदर्शनियों में राजा विक्रम के चित्र अब भी बनाए जाते हैं। कभी बेताल को कंधे पर उठाए, तो कभी शस्त्रधारी वीर के रूप में, तो कभी योगी के रूप में ध्यानमग्न। यह विविध छवियाँ यह संकेत करती हैं कि विक्रमादित्य केवल एक आयामी चरित्र नहीं हैं, बल्कि वह भारतीय मानस की बहुआयामी आकांक्षाओं और मूल्यों के संवाहक हैं।

वर्तमान में जब भारत का ग्रामीण समाज आधुनिकता के संक्रमण से गुजर रहा है, तब भी विक्रमादित्य की गाथाएँ उसकी सांस्कृतिक स्मृति में जीवित हैं। उनके चरित्र को आज भी आदर्श शासक, विद्वान संरक्षक और लोकधर्म के प्रतीक के रूप में याद किया जाता है। मालवा की लोकसंस्कृति में उनके प्रति यह श्रद्धा केवल अतीत की स्मृति नहीं है, बल्कि यह समसामयिक जीवन के लिए दिशा देने वाली प्रेरणा भी है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि मालवा के लोक साहित्य में सम्राट विक्रमादित्य एक ऐतिहासिक या पौराणिक चरित्र से कहीं अधिक, जनमानस की चेतना में रचे–बसे एक सांस्कृतिक पुरुष हैं। वे वीरता, न्याय, बुद्धिमत्ता और धर्म के प्रतीक हैं और मालवा की लोकपरंपरा में उनका स्थान किसी अवतारी पुरुष के समान है। यह साहित्यिक स्मृति केवल विरासत नहीं, बल्कि पीढ़ी–दर–पीढ़ी संजोई गई वह आस्था है, जो आज भी मालवा के गाँवों में जीवित है, साँझ की चौपालों में गूंजती है और लोकगीतों की लहरियों में बहती है। विक्रमादित्य की यह गाथा भारतीय लोक संस्कृति की अक्षय निधि है। एक ऐसी परंपरा, जो समय की धूल झटकते हुए पुनः जीवित होती है और प्रेरणा देती है।

महाजनपद युग की वेश-भूषा

ऋतु मिश्र

महाजनपद युग की सभ्यता का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि इस युग में वैदिक युग से भारतीय सभ्यता आगे बढ़ चुकी थी। ग्राम्य सभ्यता से निकलकर भारतीय सभ्यता अब नगरों में केंद्रित होने लगी थी और इसके फलस्वरूप राजगृह, साकेत, वाराणसी, वैशाली और पुष्कलावती ऐसे बड़े बड़े नगर सभ्यता के केन्द्र बन गये थे। उनकी करीनेदार सड़कें, सजी दुकानें तथा कला कौशल के कारखानें भारतीय सभ्यता के प्रतीक थे। विचार स्वतंत्रता इस युग की खास देन थी जिसके फलस्वरूप प्राचीन वैदिक धर्म की नींव हिल गयी। इस युग में बहुत सी धातुएं जैसे रांगा, सीसा, बांदी, लोहे और तांबे का खूब व्यवहार होने लगा था। राज प्रासाद और रईसों के एक या कई मंजिलों वाले प्रशस्त गृह ईंट और लकड़ी के बनने लगे थे। कपास, क्षौम, रेशम, और ऊनी कपड़ों का खूब चलन था। कपड़ों पर कसीदे का काम भी होता था। तरह–तरह के बरतन और सज्जा के सामान जैसे कुर्सियाँ, सिंहासन, सेज, शीशे इत्यादि लोग व्यवहार में लाते थे। लोग सोने चाँदी के गहने पहनते थे और बहुत से रत्नों का उन्हें पता था। जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में जो जैनग्रंथ है दरजियों, बुनकरों और रेशमी कपड़े बिनने वालों को शिल्पायों के श्रेणी में रक्सा गया है जिसका मतलब यह है कि अपने शिल्प बल से ये कारीगर आर्यत्व को प्राप्त थे। इसी तरह दौध्यिक, सौत्रिक और कार्पोसिक भी कर्म आर्य, माने गये हैं।

वैदिक साहित्य में कपास का सर्व–प्रथम उल्लेख आश्वलायन गृह्य सूत्र में आया है। पाणिनि के सूत्रों में कर्पास का उल्लेख नहीं है लेकिन पाणिनि तूल से, जैसा कि ईशीका तूल से मालूम पड़ता है परिचित थे। तूल का अर्थ वाद में तो कपास होता है लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि पाणिनि के युग में भी इस शब्द के यही अर्थ होते थे। आचारांग सूत्र में भी तूल का उल्लेख है लेकिन टीकाकार ने इसका अर्थ कयास का बना कपड़ा न करके सेमल की रूई किया है। यह अर्थ संदेहात्मक है क्योंकि सेमल की सई का सूत इतना कोमल होता है कि उसका बना कपड़ा एक धोवन के बाद फट जाता है। लगता है यहां तुल से कपास का ही मतलब है। जातक कथाओं में तो कपास का बहुत उल्लेख हुआ है। तूंडिल जातक में बनारस के आसपास कपास के खेतों का वर्णन है। स्त्रियाँ कपास के खेतों की रखवारी करती थीं। महाजनक जातकों में इन्हें कप्पासरक्सिका नाम से संबोधन किया गया है। कताई और बुनाई संबंधी उपकरणों के भी कभी कभी उल्लेख जाते हैं। रूई थुनने की घनुही का उल्लेख आता है। स्त्रियों द्वारा महीन सूत कात कर गड्डी बनाने का भी उल्लेख है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में तो कौशेय के लिए एक अलग सूत्र ही है। रामायण में सीता को पीला रेशमी वस्त्र पहने बतलाया गया है। बौद्ध साहित्य में कौशेय का उल्लेख है और रेशमी चादर पहनने की अनुमति बुद्ध ने भिक्षुओं को दी है। प्राचीन जैन ग्रंथ आचारांग सूत्र में कौशेय का उल्लेख नहीं है पर पट्ट शब्द से शायद रेशम का बोध होता हो। इसी सूत्र के वस्त्रों की तालिका में चीन के बने रेशमी वस्त्र का भी उल्लेख है। चीन शब्द के आने से इस तालिका की प्राचीनता पर संदेह किया जा सकता है पर अभी तक यह प्रश्न विवादास्पद है कि चीन शब्द भारतीय साहित्य में कब से आया। चीन के बने रेशमी वस्त्रों का उल्लेख कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी आया है, और महाभारत के सभापर्व में बालीक और चीन के बने कीटज और पट्टज वस्त्रों का उल्लेख है। चीन के उल्लेख से शायद मध्य एशिया के उस बड़े रास्ते की ओर इशारा है जिससे होकर चीन से रेशम भारत और स्याम आता था।

वैदिक काल में अतसी की छाल के रेशे से बने हुये कपड़े का व्यवहार होता था। पाणिनि ने रेशेदार पौधों में उमा बानी अतसी के पौधे का भी वर्णन किया है। अथर्ववेद में कंबल शब्द का प्रयोग ऊनी वस्त्रों के लिए हुआ है। महावम्म में भी कंवत शब्द का व्यवहार ऊनी वस्त्रों के लिए ही हुआ है। जातकों में गंधार के रक्त पंतु कंबल की तारीफ की गयी है। महावणिज जातक में बहुमूल्य वस्तुओं की तालिका में उड्डीयान के कंबल भी शामिल हैं। शिवि लोगों का देश ऊनी शालों के लिए, जिन्हें बौद्ध साहित्य में सीवेग्यक दुस्स कहा है, प्रसिद्ध था। सिवि जातक में इसका उल्लेख है कि कोशल राज ने दशवल नाम के एक व्यक्ति को सिवि देश का वस्त्र जिसका दाम एक लाख कार्पोषण था, उपहार में दिया। दुस्स शब्द अब भी पंजाबी और हिन्दी में घुस्सा के रूप में बला आता है लेकिन घुस्से की चादर मामूली कीमत की होती है। लगता है कि प्राचीन दुस्स दुशाले की तरह कोई कीमती ऊनी चादर थी।

रामायण और महाभारत के अध्ययन से भी ऐसा पता चलता है कि गंधार और पंजाब ऊनी वस्त्रों के लिये प्रसिद्ध थे। रामायण में कहा गया है कि कैकय देश के राजा ने अपने भांजे भरत को विदाई में उपहार स्वरूप अलंकृत कालीन शुद्ध कंबल और बकरों की शालें दी। महाभारत के सभापर्व के उन अध्यायों से जिनमें राजसूय यज्ञ के अवसर पर देश के विभिन्न भागों से आये उपायनों का वर्णन है यह पता चलता है कि पंजाब, उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त और पूर्वी अफगानिस्तान से ऊनी कपड़े और अधिकतर शालें आयी। चीनियों हूणों, शकों, ओड़ों और पर्वतांतर में रहने वाले कबीलों ने भी तरह–तरह के ऊनी वस्त्र उपहार में भेजे। वे वस्त्र प्रमाण और रंग में पक्के तथा वाह्रीक और चीन के बने हुए थे। पालि साहित्य में काशी के बने वस्त्रों के अनेक उल्लेख आये हैं। इन्हें काशीकृत्तमरे बोर कहीं–कहीं कासीय रेट कहते थे।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

वृहत्तर भारत की गौरवगाथा भारत विक्रम

भारतीय मंदिर स्थापत्य की महिमा और सांस्कृतिक विस्तार का जीवंत दर्पण प्रस्तुत करने वाली पुस्तक भारत विक्रम न केवल एक चित्रात्मक ग्रंथ है, बल्कि यह भारतीय सभ्यता की वैश्विक छाया का दस्तावेज भी है। वीर भारत न्यास द्वारा प्रकाशित इस कृति में वृहत्तर भारत के मंदिरों की स्थापत्य परंपरा को विशद रूप से प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक का संपादन वरिष्ठ लेखक संपादक व कवि श्रीराम तिवारी ने किया है तथा पुस्तक का मुख्य आलेख राजेश्वर त्रिवेदी ने लिखा है। अपने में बेहद आकर्षक और शोधपरक इस पुस्तक का मुख्य आकर्षण वृहत्तर भारत के मंदिर स्थापत्य के छायाचित्र हैं। जिन्हें कैमरे में कैद करने का कार्य सुप्रसिद्ध छायाकार प्रवीण पाटोद ने किया है।

यह पुस्तक केवल स्थापत्य के विवरण मात्र नहीं देती, बल्कि उन पत्थरों की भाषा सुनने की दृष्टि भी प्रदान करती है। पुस्तक के छायाचित्र शिल्प और छाया का अद्भुत संयोजन हैं। पुस्तक के संयोजित मंदिर केवल स्थापत्य के चमत्कार नहीं, बल्कि भारतीय चेतना के स्थायित्व के प्रतीक हैं। ये छवियाँ साक्ष्य हैं उस सांस्कृतिक प्रभाव की जो भारत की सीमाओं को लांघकर पूरे एशिया में फैला।

कंबोडिया का अंगकोरवाट, इंडोनेशिया का बोरबुदुर और प्रम्बानन, वियतनाम और थाईलैंड के बौद्ध–हिंदू मिश्रित स्थापत्य, श्रीलंका के प्राचीन स्तूपों, जापान और चीन की कलाओं में उपस्थित भारतीय तत्व, अफगानिस्तान के विहारों, मध्य एशिया की गुफाओं और नेपाल की मंदिर संस्कृति इन सबका दिग्दर्शन इस पुस्तक के माध्यम से संभव हुआ है।

वृहत्तर भारत, जो भारतीय उपमहाद्वीप से लेकर दक्षिण–पूर्व एशिया, इंडोनेशिया, कम्बोडिया, थाईलैंड, म्यांमार, श्रीलंका तथा अफगानिस्तान तक फैला हुआ सांस्कृतिक क्षेत्र रहा है, वहाँ के हिन्दू मंदिर स्थापत्य की महिमा इतिहास की अमूल्य धरोहर है। पुस्तक में इस स्थापत्य पर प्रकाश डालते हुए जिस आत्मगौरव, सौंदर्यबोध और सांस्कृतिक निरंतरता की अभिव्यक्ति हुई है, वह भारतीय सभ्यता के प्राचीन गौरव की गवाही देती है। भारतीय मंदिर स्थापत्य केवल ईंट–पत्थरों का ढाँचा नहीं, बल्कि वह दिव्य ऊर्जा का केंद्र होता है जहाँ कला, धर्म, विज्ञान और समाज एकसूत्र में गुँथे होते हैं। भारतवर्ष में विकसित नागर, द्रविड़ और वेसर शैली के भव्य मंदिर जब समुद्र पार दक्षिण–पूर्व एशिया पहुँचे, तो उन्होंने वहाँ की भूमि, जनमानस और शासन को भी प्रभावित किया। 'भारत विक्रम' में जिस प्रकार अंगकोरवाट (कम्बोडिया), प्रम्बानन (इंडोनेशिया),

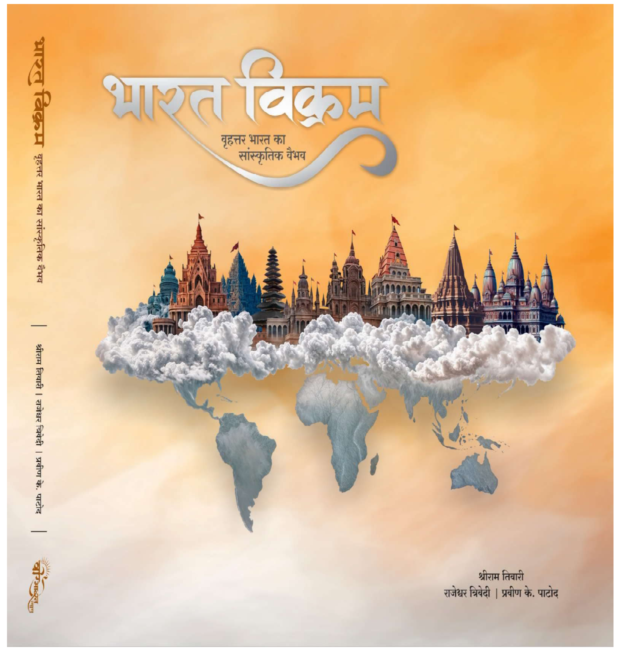

म्यांमार के बागान मंदिर समूह, और थाईलैंड के हिन्दू मंदिरों की चर्चा की गई है, वह दर्शाता है कि भारतीय स्थापत्यकला एक सांस्कृतिक राजदूत बनकर फैली। प्राचीन काल में दक्षिण भारत के साम्राज्यों ने व्यापार, संस्कृति और सैन्य अभियान के माध्यम से समुद्र पार अपने प्रभाव को फैलाया। विशेषतः चोल, पल्लव, और पांड्य जैसे शक्तिशाली राजवंशों ने दक्षिण–पूर्व एशिया तक अपनी सत्ता और संस्कृति का प्रसार किया। इनका उद्देश्य केवल व्यापारिक लाभ अर्जित करना नहीं था, बल्कि उन्होंने भारतीय संस्कृति, धर्म और स्थापत्य की अमिट छाप भी छोड़ी।

यह पुस्तक उस विराट सांस्कृतिक स्मृति का पुनः आह्वान करती है जो आधुनिकता के शोर में कहीं दब गई थी। पुस्तक भारत विक्रम उन मंदिरों को स्मरण में लाती है जो आज भारत के बाहर हैं लेकिन भारत की आत्मा से जन्मे हैं। यह पुस्तक भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य की एक सुंदर झलक है। एक ऐसा साम्राज्य जो किसी युद्ध या शक्ति से नहीं, बल्कि विचार, कला और अध्यात्म के माध्यम से फैला। भारत विक्रम एक संग्रहणीय ग्रंथ है, जो मंदिर स्थापत्य को केवल दृष्टि का विषय नहीं, बल्कि चिंतन का केंद्र बनाता है। यह पुस्तक प्रत्येक भारतीय शोधार्थी, इतिहास प्रेमी, कला–रसिक और जिज्ञासु जन के लिए एक प्रेरणास्रोत है। यह न केवल अतीत का दर्पण है, बल्कि भविष्य की दिशा भी सुझाती है। एक ऐसा भविष्य जो अपनी जड़ों को पहचानकर ही सशक्त बनता है।

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन 456010 से प्रसारित। संपादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए। फोन : 0734–2521499, 0755–2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com